लोक-मानस का परिष्कृत मार्गदर्शन

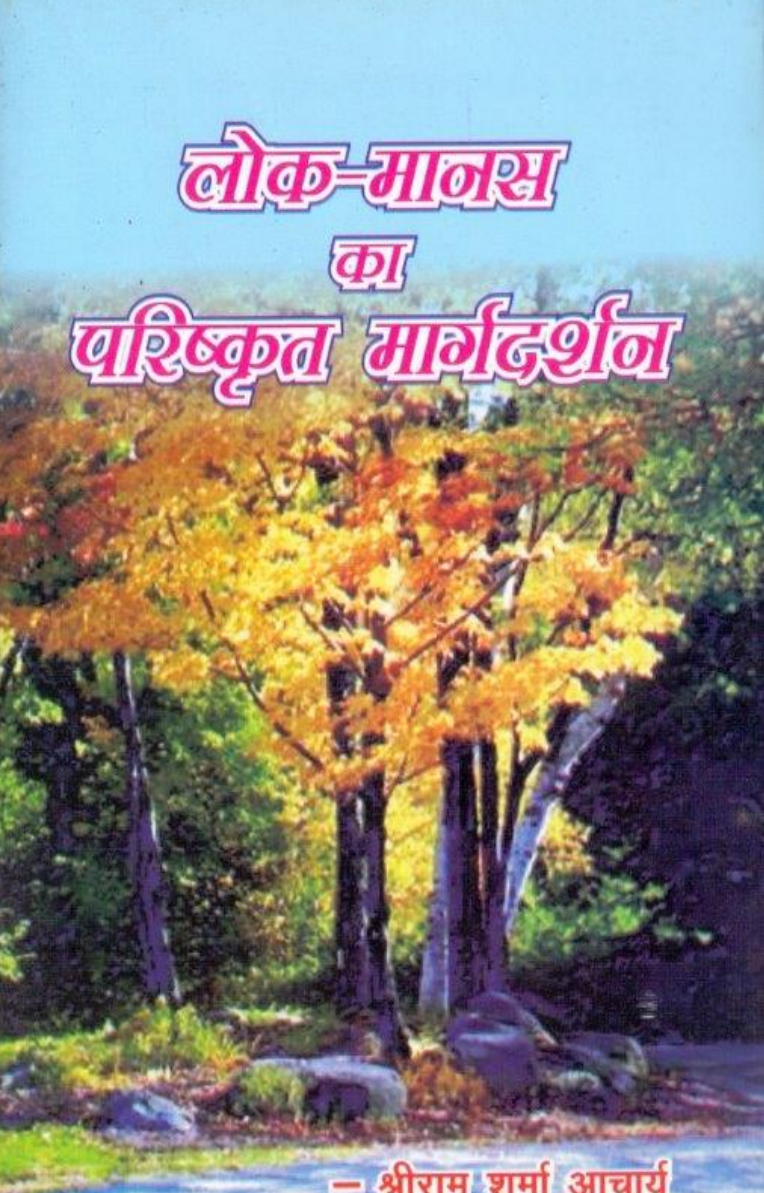

— श्रीराम शर्मा आचार्य

लोकमानस का परिष्कृत मार्गदर्शन

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : ७.०० रुपये

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

पुनरावृत्ति सन् **२०११**

मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

लोकमानस का परिष्कृत मार्गदर्शन

मनुष्य की काय संरचना और मस्तिष्कीय बुद्धि विचारणा का इतना बड़ा अनुदान हर किसी को मिला है कि वह अपना और संबद्ध परिकर का काम भली प्रकार चला सके। इस क्षमता से रहित कोई भी नहीं है, इतने पर भी व्यामोह का कुछ ऐसा कुचक्र चलता रहता है कि उपलब्धियों की न तो उपस्थिति का अनुभव होता है और न उससे किस प्रकार का, क्या काम लिया जाना चाहिए, इसका निर्धारण बन पड़ता है।

ऐसी दशा में असमर्थता अनुभव करने वालों को समर्थों का मार्गदर्शन एवं सहयोग प्राप्त करना होता है। उसके अभाव में विद्यमान क्षमताएँ प्रसुप्त अवस्था में पड़ी रहती हैं और उनके द्वारा जिस प्रयोजन की पूर्ति की जा सकती थी वह नहीं हो पाती।

कपड़े कोई भी धो सकता है, पर अनभ्यास या आलस्य की स्थिति में धोबी का आश्रय लेना पड़ता है। पेट भरने योग्य भोजन बना लेने की आदत दो-चार दिन में डाली जा सकती है, पर देखा यह गया है कि आवश्यक वस्तुएँ घर में होते हुए भी रसोई बनाने का सरंजाम नहीं जुट पाता और भूखे रहने या बाजार से खाने की कठिनाई सामने आ खड़ी होती है। अनेक अपने हाथ से हजामत बनाते हैं, पर कितनों ही का काम नाई का सहयोग लिए बिना चलता ही नहीं। अभ्यास से संगीत-संभाषण जैसे कौशल सहज ही सीखे जा सकते हैं, पर अपने से इस संदर्भ में कुछ करते-धरते न बन पड़ने पर किसी दूसरे को बकौल प्रतिनिधि या माध्यम के खड़ा करना पड़ता है। इसे आलस्य-अनभ्यास भी कहा जा सकता है और अनुकूल सुविधा हस्तगत न होने का कुयोग भी।

इस हेय स्थिति में से निकलने का सभी को प्रयत्न करना पड़ता है और किया भी जाना चाहिए। इस अवलंबन का नाम है-मार्गदर्शन,

उसे प्राप्त करने में किसी को अपनी छुटाई या अवमानना अनुभव नहीं करनी चाहिए, वरन इस तलाश में रहना चाहिए कि जो अब तक उपलब्ध नहीं है, वह आगे उपलब्ध हो। तालाबों में निज का पानी कहाँ होता है ? वे बादलों से ही उधार लेकर अपना भंडार भरते हैं। जलवायु जैसे प्रकृति अनुदानों को हम कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हैं, न इसमें अपनी हेठी मानते हैं और न अभावग्रस्तता।

छोटे बच्चे अभिभावकों का सहयोग लेकर ही अपनी भ्रूण स्थिति को पार करते स्तनपान का लाभ लेते, आच्छादनों और सेवाओं का लाभ उठाते हैं। इतना बन पड़ने पर ही वे घुटनों के बल चलने या खड़ा होने की स्थिति में आते हैं। भाषा-बोध भी उन्हें परिवार के सदस्यों का अनुकरण करते-करते ही हस्तगत होता है। जिन बालकों का पालन पशु समुदाय के बीच हुआ है उन अपवादों में मनुष्य बालक भी पशु स्तर का आचरण करते और शब्द बोलते देखे गए हैं-यह है समर्थ मनुष्य की असमर्थता। मौलिक रूप से वह स्रष्टा की दी हुई अनेकानेक विशेषताओं से संपन्न है, किंतु इसे प्रकृति का व्यंग्य ही कहना चाहिए कि वह अपनी महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो पाता, उसे दूसरों के सहयोग, मार्गदर्शन या आश्रय की आवश्यकता पड़ती है, चाहे वह कितना ही न्यून क्यों न हो!

बच्चे बाल-कक्षाओं से लेकर स्नातक स्तर तक का, उससे भी आगे विशेष विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं किंतु यह सब अनायास ही नहीं हो जाता, इसके लिए स्कूली वातावरण, अध्यापकों का, पुस्तकों का सहारा लेना पड़ता है। यों हृदयंगम शिक्षार्थी स्वयं ही करता है, पर इसके लिए विशेषताओं का, विशेष परिस्थितियों का आश्रय लेना अनिवार्य स्तर पर आवश्यक हो जाता है। बिना सहायता के किसी ने उच्चस्तरीय ज्ञान स्वयं अर्जित किया हो, उसके उदाहरण कहीं कदाचित ही दीख पड़ते हैं। आत्मज्ञान-तत्त्वदर्शन की उपलब्धि के लिए आरंभ में प्रत्यक्ष गुरु की और बाद में-'**अखंडमंडलाकारं व्याप्तं विश्व**

चराचरम्' रूपी समष्टि चेतना के सम्मुख अपने को समर्पित करना पड़ता है, इसके बिना मनुष्य दिग्भ्रांत और अनगढ़ ही बना रहता है।

मानवी सत्ता की महत्ता इसी दृष्टि से है कि उसे उपयुक्त माध्यमों से मोड़ा-मरोड़ा, सुधारा-सँभाला जा सकता है। चतुर माली अपने उद्यान को रंग-बिरंगे फूलों, सुमधुर फलों और नयनाभिराम शोभा संपदा से भरपूर बना देता है। इसमें पेड़-पौधों की अपनी विशेषता का जितना महत्त्व है उससे कहीं अधिक माली की कलाकारिता का है। यदि वह खाद-पानी, निराई-गुड़ाई, छँटाई-रखवाली की समग्र प्रक्रिया में चूक करे तो समझना चाहिए कि झाड़-झंखाड़ों का झुरमुट ही खड़ा हो जाएगा। प्रकृतितः पौधे झाड़-झंखाड़ों का रूप ही धारण करते हैं। यह कुशल कलाकार की साधना ही है जो तुच्छ वस्तुओं को कुछ से कुछ बनाकर रख देती है।

कपड़ों के टुकड़े से दर्जी बढ़िया पोशाक सीकर देता है। धातुओं के टूटे-फूटे टुकड़ों को स्वर्णकार आकर्षक आभूषणों में बदल देता है। कागज और कूँची के सहारे चित्रकार बहुमूल्य तसवीरें बनाते हैं और मूर्तिकार के छैनी-हथौड़े पत्थर के टुकड़े को देव प्रतिमा के रूप में पूजे जाने योग्य बना देते हैं। वाद्य यंत्रों में लगी सामग्री कौड़ी के मोल की होती है, पर वे जब कारीगर की तत्परता के साथ जुड़ते हैं तो वादन का ऐसा सुयोग बिठाते हैं कि गायक के स्वर में चार चाँद लगने लगें। कला की, कला-कौशल की जितनी महिमा गाई-बताई और समझी-समझाई जाए उतनी ही कम है। आत्मचेतना और उसकी विलक्षण गरिमा का हमें बोध होना चाहिए कि अनगढ़ को सुगढ़ बनाने वाले तंत्र की भी अपनी महत्ता और आवश्यकता है। इसके बिना न हाथी पर सवारी गाँठी जा सकती है और न शेर से सरकस वाले करतब कुतूहल दिखाने का आधार खड़ा होता है। संसार की अगणित महती विभूतियों में एक यह भी है कि सामान्य को असामान्य बना देने वाले कलाकार के साथ गुंथ जाने का उसे सुयोग मिल जाए।

बहुमत की अपनी उपयोगिता है, पर वह वोटों की गिनती तथा जुलूस, प्रदर्शन, मेले-ठेले की भीड़-भाड़ तक ही सीमित है। साधारणतया मनुष्य को बंदर की औलाद कहकर जीवविज्ञानियों द्वारा संबोधित किया जाता है। प्रकृति की उपज में वह भी एक पशु वर्ग का प्राणी है और उदरपूर्णा, आत्मरक्षा, वंशवृद्धि जैसी मोटी जानकारियों से अवगत है।

जनसंख्या की वृद्धि यों जंगलों को बसाने और श्रमिकों को बटोरने में काम भी आ सकती है, पर इन दिनों जिस प्रकार जनसंख्या विस्फोट हो रहा है उस पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि यह भी महायुद्ध या महामारी स्तर की विपत्ति है। उत्पादन बरसाती मेंढ़कों और मक्खी-मच्छरों को भी मात दे रहा है। खाद्य, शिक्षा, चिकित्सा, बेरोजगारी, आपाधापी, मूढ़ मान्यता, यातायात स्तर की दृश्य और अदृश्य समस्याएँ निरंतर बढ़ती चली जा रही हैं, वे व्यक्तिपरक, पदार्थपरक और घटनापरक तीनों स्तर की हैं। उनका समुच्चय भयावह से भयावह तर और तम होता चला जाता है। कारण कि न तो वर्तमान पीढ़ी का बहुसंख्यक भाग ऐसा है जो अपनी समस्याओं का समाधान कर सके और न इस स्तर का है कि अपने द्वारा उत्पादित कोरे कागजों पर कुछ सुंदर सी लकीरें बना सके। स्पष्ट है कि जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ समस्याओं की विद्रूपता अगले दिनों और भी अधिक बढ़ती जाएगी। संग्रहीत सुसंस्कारों का अभाव पूरा कर वर्तमान में सत्प्रवृत्तियों-सत्प्रयोजनों को बढ़ाने की दिशा में प्रयत्नशील होने का पौरुष दिखा सकें, यह कार्य हर परिवार में निजी रूप से होना चाहिए था, पर उनकी स्थिति और स्तर को देखते हुए वैसी आशा करना व्यर्थ है फलतः नया मार्ग ही खोजना पड़ेगा और प्राचीनतम परंपरा को पुनर्जीवित करना होगा। उन दिनों गृहस्थ ब्राह्मणों और विरक्त परिव्राजकों का बहुत बड़ा समुदाय लोकशिक्षण की महती जिम्मेदारी को वहन करता था। अपने निजी स्वार्थ, निजी पराक्रम को इसी लक्ष्य से पूरी तरह नियोजित किए रहता था कि जनस्तर के किसी भी पक्ष में गिरावट न आने पाए। किसी क्षेत्र का, किसी भी परिस्थिति का व्यक्ति भौतिक या

आत्मिक दृष्टि से गई-गुजरी परिस्थितियों में न रहने पाए। इसके लिए वे लोगों को अपने यहाँ बुलाने-जमा करने की आशा नहीं करते थे, वरन बादलों की तरह जाकर हर खेत पर बरसते और तालाब को पानी से लबालब भरते थे। यही थी एकमात्र वह रहस्य भरी परंपरा जिसने इस देश के नागरिकों को तैंतीस कोटि देवता स्तर का बनाया था और इस भारतभूमि को '**स्वर्गादपि गरीयसी**' होने का सम्मान संसार भर की जनता से दिलाया था।

आज की स्थिति में उस सतयुगी परंपरा को पुनर्जीवित करने का और कोई उपाय नहीं। यद्यपि यह है अति कठिन, क्योंकि प्राचीनकाल में इस परमार्थ प्रयोजन में असंख्यों व्यक्ति लगे मिलते थे और उन्हें देखकर एक-दूसरे को प्रेरणा मिलती थी। समस्याओं को भी आपस में मिल-बैठकर समझते और सुलझाते थे, पर अब तो ऐसा कहीं भी कुछ भी दीख नहीं पड़ता। हर व्यक्ति स्वार्थ साधन में लगा है और पतन तथा कलह के बीज बो रहा है। ऐसी दशा में अंत:प्रेरणा के आधार पर युग समस्या को समझते हुए लोकमानस के परिष्कार का कार्य कौन हाथ में ले ? अकेले के बलबूते कोई व्यापक कार्यक्रम कैसे बने ? और जब निराशा, असफलता और उपहास का वातावरण चारों ओर दीखे तो किस बलबूते अपने पैरों को लंबे समय तक टिकाए रह सके? यह भावनात्मक कठिनाई ऐसी है जो विचारशीलों और साधन-संपन्नों को भी कुछ करने-धरने नहीं देती। फिर उनका तो कहना ही क्या जिन्हें शिक्षा की कमी, सहयोग का अभाव तथा आर्थिक तंगी जैसे अनेकों अवसाद घेरे खड़े रहते हैं।

लोकमानस इन दिनों महाभारत के चक्रव्यूह की तरह फँसा पड़ा है। इसे बिना उबारे काम चलता नहीं और उपेक्षा बरतने पर रही-बची आशा पर भी तुषारापात होता है। मार्गदर्शन आज की महती आवश्यकता है, पर उसकी पूर्ति के लिए उपयुक्त मार्ग दिखाने वाला अग्रगामी भी तो चाहिए ?

❐

महामानव जिनने समाज को दिशा दिखाई

गांधीजी के सभी परिवार वाले चाहते थे कि लड़का मोहनदास एक अच्छा वकील बने। स्वयं कमाए, खाए तथा घर वालों की इज्जत बढ़ाए-सहायता करे। हर एक से एक ही परामर्श सुनते रहने के बाद वे सहमत भी हो गए और पूरी मेहनत करके नियत पढ़ाई पढ़ने लगे।

वकील को बहुत पैसा और बड़ा सम्मान मिलता है, यह मान्यता उनने भी बना ली होगी, पर परिस्थितियों ने साथ न दिया। पढ़ाई पूरी करके वकालत के क्षेत्र में उतरे तो पहले ही मुकदमे में प्रतिभा लड़खड़ा गई। बहस ठीक तरह न हो सकी, फलतः मजिस्ट्रेट भी मुस्कराया और मुवक्किल ने झल्लाकर अपनी दी हुई फीस का पैसा वापस ले लिया। अगर ऐसी ही वकालत जिंदगी भर भी चलती रहती और थोड़ा-थोड़ा सुधार-अभ्यास भी होता रहता तो भी संभावना यह न थी कि वे घर वालों की इच्छा के अनुरूप कोई बड़े वकील बन सके होते, ढेर सारी इज्जत या दौलत कमा सके होते।

किंतु नियति का दूसरा ही विधान था। गांधीजी ने बचपन में एक जगह राजा हरिश्चंद्र का ड्रामा देखा। सोचते रहे-यदि अपनी आदर्शवादिता की छाप पीढ़ियों तक लोगों पर छोड़ी जाए और बताए हुए मार्ग पर दूसरों को चलने के लिए प्रोत्साहित किया जाए तो इसमें बुराई क्या है?

विश्वामित्र नवयुग निर्माण की अनेक योजनाएँ कार्यान्वित करने के लिए व्याकुल थे, पर उनके पास साधन न थे। एक-एक बूँद साधन इकट्ठे करने में वह शक्ति चुक जाती है जिसके द्वारा कोई बड़ा काम संपन्न किया जा सकता है। इसलिए उनने सोचा कि राजा हरिश्चंद्र को ही यह काम क्यों न सौंपा जाए! उसकी श्रद्धा भी परीक्षा की कसौटी पर कस जाएगी, कीर्ति भी अमर हो जाएगी, उनका अनुसरण करने वालों में से असंख्यों महान बनेंगे। इतना ही क्यों, जो उनका धन और

वैभव परमार्थ में लग जाएगा उसे वापस लौटाने के लिए स्वयं धर्मराज, बृहस्पति और इंद्र उनके दरवाजे पहुँचेंगे। इतना बड़ा लाभ कमाने में यदि हरिश्चंद्र को कुछ आरंभिक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं तो यह घाटे का सौदा नहीं है। बीज को भी तो पल्लवित होने के लिए आरंभ में गलने का साहस सँजोना पड़ता है।

गांधीजी ने नाटक को खेल-तमाशे की तरह मनोविनोद के लिए नहीं देखा वरन उस चरित्र के पीछे समाहित उद्देश्यों और परिणामों पर भी आदि से अंत तक वे विचार करते रहे। बिना समय गँवाए उनने निश्चय कर लिया कि ऐसे ही आदर्शों के लिए जीवन समर्पित करना है। जीवन की सुनिश्चित रीति-नीति यही बनानी है, शरीर और दिमाग वकालत की पढ़ाई पढ़ता रहा और आत्मा हरिश्चंद्र बनने के लिए किस कार्यपद्धति को अपनाना होगा, इसका ताना-बाना बुनती रही। क्रम संतुलित ढंग से चलता रहा। अंत:करण में संकल्प परिपक्व होते रहे और शरीर उनका कहना मानता रहा, जिन अभिभावकों के ऊपर उनके शरीर के निर्वाह का दायित्व था।

वकालत को बीच में ही छोड़कर उनने जो गतिविधियाँ अपनाईं, उनकी जानकारी सभी को है। दक्षिण अफ्रीका में जाति-भेद के विरुद्ध संग्राम में डटे, उनका साथ देने के लिए हजारों भारतीय आए और आंदोलन की सफलता को एक बड़ी सीमा तक ले पहुँचे। आशंका यह थी कि दुनिया कायर-कमजोरों से भरी पड़ी है। जिससे प्रत्यक्ष स्वार्थ सिद्ध न होता हो उसे करने के लिए कोई सहज तैयार नहीं होता, बगलें झाँकता है, बहाने बनाता है और आँखें चुराता है। आशंका अपनी जगह काम करती रही, पर साथ ही यह भी होता रहा कि एक साहसी के आगे बढ़कर हुंकार जगाने पर जिनके अंदर भावनाएँ जीवित थीं, वे चुप न बैठ सके और दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह उन विकट परिस्थितियों में भी अपनी शान के साथ चला।

गांधीजी भारत लौटे, गोखले जैसे रत्नपारखी ने इस चरित्र, साहस और आदर्श के धनी को पहचाना, परखा और कांग्रेस आंदोलन में घसीट लिया। गोखले ने पहला काम उनसे भारत-भ्रमण का कराया

ताकि देश की दयनीय स्थिति को आँखों देखते हुए निर्णय किया जा सके कि इन असहायों की सहायता करना आवश्यक है या अपने लिए वैभव-बड़प्पन जमा करना। एक वर्ष के भारत-भ्रमण से उनने दृढ़ संकल्प कर लिया कि भारत माता को विपन्नता के चंगुल से छुड़ाने से बढ़कर जीवन का कोई श्रेष्ठ सदुपयोग हो नहीं सकता। स्वतंत्रता संग्राम छेड़ने की योजना बनी और वह अनेकों मोह-मरोड़ों, व्यतिरेक-व्यवधानों को पार करती हुई गंगा की अविच्छिन्न धारा की तरह बहती रही। रुकी तब जब उसने लक्ष्य को पूरी तरह प्राप्त कर लिया।

अहिंसात्मक स्वतंत्रता संग्राम की सफलता के रहस्यों पर जिनने गंभीरतापूर्वक विचार किया है, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारत माता को एक ऐसे सपूत का आधार-अवलंबन मिल गया जो अपने व्यक्तित्व, चरित्र, त्याग, साहस और सज्जनता का धनी था। यदि देश को गांधी नहीं मिलते तो एक प्रश्न खड़ा होता है कि स्वतंत्रता आंदोलन को जितनी तीव्रता और सरलता से सफलता मिली, वैसी बन भी पड़ती या नहीं ?

गांधीजी ने भ्रमण किया और जनसंपर्क साधा। इस प्रयास से उन्हें गहरे समुद्र में डुबकी मारकर मणिमुक्तक बटोरने वाले पनडुब्बों जैसी सफलता मिली। लक्ष्य के प्रति दूसरे लोगों में भी व्याकुलता थी, पर नेतृत्व एवं संगठन और निश्चित कार्यक्रम के अभाव में वे कुछ कर नहीं पा रहे थे, मन मसोसे बैठे थे। इन सभी को उन्होंने अपने अंचल में समेट लिया। एक से एक बढ़कर व्यक्तित्व के धनी उन्हें मिलते चले गए। इतने ऊँचे स्तर के और इतनी बड़ी संख्या में अनेक को साथ घसीट ले चलने वाले सत्याग्रही नेता मिल गए, जिसकी मिसाल इतिहास में अन्यत्र नहीं मिलती। बिजली छूने वाले को भी करेंट पहुँचता है। गांधीजी की लगन ने इतना जन सहयोग एकत्रित किया जिसने सारे वातावरण को हिला दिया। त्याग-बलिदान के ढेर लग गए और अंततः उस सरकार को बोरिया-बिस्तर बाँधना पड़ा, जिसके साम्राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता था। इस असंभव को संभव होते हुए देखकर हर किसी को कहना पड़ा कि खरे व्यक्तित्व में हजार हाथी

के बराबर बल होता है और वह औचित्य की आवाज से जमीं-आसमान तक उठा सकता है, अदम्य तूफान उठा सकता है।

गांधीजी 'महात्मा' कहे जाते थे, पर उनने जप, तप, योगाभ्यास, ध्यान, समाधि, मुद्रा, तंत्र-मंत्र आदि कुछ भी नहीं किए थे, वे तो सच्चे मन से जनता में घुल भर गए थे। उनने देश की गरीबी को देखते हुए आधी धोती पहनने और आधी ओढ़ने का रवैया अपनाया था। सदा रेल के थर्ड क्लास में सफर करते थे। एक बार वाइसराय ने जरूरी परामर्श के लिए हवाई जहाज से बुलाया, पर वे अपने व्रत से डिगे नहीं। रेल के थर्ड क्लास में बैठकर ही दिल्ली पहुँचे। उनकी खजूर की चटाई, सरकंडे की कलम, रस्से की बनी चप्पल अभी तक सुरक्षित है जो बताती है कि नेता को जनता के स्तर से अधिक खरच नहीं करना चाहिए। वे उन महात्माओं में से नहीं थे जो सोने-चाँदी की अंबारी वाले हाथी पर चँवर डुलाते हुए निकलते हैं। यदि गांधीजी ने ठाठ-बाट बनाया होता तो उसके लिए भी पैसा मिल जाता, पर ठाठ और अहंकार को देखकर जनता की श्रद्धा आधी चली जाती।

इस संसार में सभी प्रकार के मनुष्य हैं, बुरे ही नहीं भले भी। चुंबक लौह कणों को खींचता है। धातुओं के पर्वत इसी आकर्षण शक्ति के आधार पर खड़े होते हैं। गांधीजी पर प्राण न्योछावर करने वाले और पूरी तरह उनके आदेशों पर चलने वाले हजारों नेता ही नहीं, लाखों सत्याग्रही स्वयंसेवक भी थे। यदि इतना बड़ा परखा हुआ समुदाय साथ में न होता तो खादी आंदोलन, सर्वोदय, हरिजन सेवा, प्राकृतिक चिकित्सा जैसे अनेक रचनात्मक कार्य भी वे स्वतंत्रता संग्राम के साथ ही किस प्रकार चला पाते? इन्हें चलाने के लिए समर्थ प्रतिभाओं को जुटाना अनिवार्य रूप से आवश्यक था सो जुट भी गया, अन्यथा अकेले गांधीजी किस सीमा तक क्या कर पाते, यह आकलन करना मुश्किल है।

जौहरी की दुकान पर यहाँ-वहाँ टकराते हुए रत्न और स्वर्ण आभूषण पहुँचते हैं। गांधीजी के पास हर काम के लिए उपयुक्त व्यक्ति पर्याप्त संख्या में पहुँच गए थे। एक ब्राह्मणी ने अपने तीन पुत्रों को

ब्रह्मज्ञानी-ब्रह्मचारी बनाया और उन्हें परमार्थ के लिए सौंप दिया। विनोबा, बालकोवा, शिवोबा ऐसे ही साथी थे जो गांधीजी को ऊँचे वेतन पर नहीं, समर्पित स्थिति में मिले थे। विनोबा ने सर्वोदय-भूदान सँभाला। वे ब्रह्मविद्या मंदिर भी चलाते थे और वामन अवतार की तरह अपने डगों से समूची भारतभूमि को नापते फिरे थे। बालकोवा को उरली कांचन का प्राकृतिक चिकित्सालय सौंपा तो उनने बिना रुचि परिवर्तन की बात सोचे सारी जिंदगी उसी काम में खपा दी। शिवोबा (शिवाजी भाऊ) भी विनोबा के ही पदचिह्नों पर चले। हरिजन सेवा के लिए वरिष्ठ इंजीनियर ठक्कर बापा को एक काम थमाया गया तो दूसरी ओर सिर उठाकर देखने की उन्हें फुरसत ही न मिली।

गांधीजी समुद्र जितने गहरे और हिमालय जितने ऊँचे थे, उनके व्यक्तित्व और कर्तव्य का उल्लेख यहाँ कर सकना संभव नहीं। पर उस सबका सारतत्त्व यहाँ से आरंभ होता है कि उनने वकालत की शान-शौकत को लात मारकर अपनी समूची प्रतिभा को जनसेवा के लिए समर्पित कर दिया। बदले में जो उनने पाया वह भी कम नहीं था, उनके निमित्त श्रद्धा व्यक्त करने के लिए हजारों शानदार संस्थाओं और इमारतों के नामकरण हुए हैं। राजघाट पर उनकी समाधि के सामने अभी भी इतने आँसू और फूल बरसते हैं मानो देवता आरती उतार रहे हैं। धन्य है ऐसे जीवन जो असंख्यों के सेवक और जननेता बनकर संसार में आदर्शवादी लहर चला सके और पीछे वालों के लिए एक अमरगाथा छोड़ सके।

पिछड़ों की सेवा के लिए समर्पित—कागाबा

जापान का एक मेधावी छात्र कागाबा टोकियो विश्वविद्यालय की स्नातकोत्तर परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ। घर के लोग उससे बैरिस्टर बनने का आग्रह कर रहे थे। राजनीति के क्षेत्र में कुछ संपर्क था, सो वे उसे चुनाव लड़ने और मिनिस्टर बनने की योजना विस्तारपूर्वक समझा रहे थे। एक साथी मित्र ने अपने मिल में साझीदार बनने का प्रस्ताव किया। पूँजी लगाने के बदले वे मिल की व्यवस्था सँभालें, इसके लिए मित्र का पूरा परिवार सहमत था और भी ऐसे ही कई बड़े प्रस्ताव थे, जिनके सहारे वे कोई बड़े अफसर, व्यापारी,

राजनेता आदि बन सकते थे। सुखी और संपन्न बनाने की सलाह तथा सहायता देने के लिए कितने ही मित्र-संबंधी अपनी तत्परता दिखा रहे थे, उनका व्यक्तित्व हर दृष्टि से आकर्षक जो था।

कागाबा की अपनी और कुछ निजी महत्त्वाकांक्षा तथा योजना थी, वे दुखियारों का सराहा बनना चाहते थे। धनी अधिकारी बनने पर भी जब पेट ही भरना है तो उतना सेवा कार्य करते हुए भी संभव हो सकता है। एक ओर महत्त्वाकांक्षाओं के पर्वत थे तो दूसरी ओर करुणा जो चुपके से उन्हें सलाह दे रही थी कि किसी की मत मानो, आत्मा की आवाज सुनो। कितने दुखियारों का सहारा बन सकते हो-तुम जरा इसका भी विचार करो। जीवन का मूल्य समझो और इसे अमीरी के लिए न्योछावर न करो। कागाबा ने आत्मा की पुकार सुनी ही नहीं, स्वीकारी भी, उनने सत्परामर्शदाताओं को निरुत्तर कर दिया।

कागाबा ने अपने नगर का कोना-कोना छान मारा। एक-तिहाई हिस्सा ऐसा था जिनमें कंगाली, कोढ़ी, अपंग, भिखारी स्तर के लोग रहते थे, उन्हीं में कुछ उठाईगीरे, शराबी, जुआरी भी शामिल थे। फूस की झोपड़ियों में ये लोग रहते थे और इस तरह का जीवन बिताते थे मानो साक्षात नरक में ही रह रहे हों। दुर्गंध का साम्राज्य था, आएदिन चोरी से लेकर हत्याओं तक की घटनाएँ उस क्षेत्र में होती रहती थीं। आफत की मारी कुछ अनपढ़ महिलाओं ने गुजारे के लिए वेश्यावृत्ति भी अपना रखी थी। संपन्न लोगों के महल अलग थे, पर इन कंगलों की अपराधी-बीमारों की संख्या भी कम न थी।

कागाबा ने निश्चय किया कि वे इसी मुहल्ले में रहेंगे और अपना कार्यक्रम इन दुखियारों की सेवा करते हुए जीवन बिताने का बनाएँगे। सेवा करने के हजार उपाय थे जो बिना पैसे के, शरीर सेवा या सत्परामर्श देने से भी हो सकते थे। उनकी सूची और विधि भी उनने बना ली, पर अपने निर्वाह का प्रश्न शेष रहा, इसके लिए उनने परिवार तथा मित्र समुदाय से भी कुछ न लेने का निश्चय किया। उनने कुछ बच्चों को पढ़ाने के लिए ट्यूशन ढूँढ़ ली जो उन्हें आसानी से मिल भी गई। अपनी झोपड़ी, खाना पकाने का थोड़ा सा सामान, एक

सस्ता सा बिस्तर, कुल यही थी उनकी पूँजी। निजी कामों में सोने समेत आठ घंटे से अधिक न लगाते। शेष सारा समय उन जीवित भूत-पलीतों की सेवा में रुचिपूर्वक बिता देते।

कई वर्ष इस प्रकार बीत गए, उन मुहल्लों में रहने वाले पिछड़े लोगों में से एक भी ऐसा न बचा जो किसी न किसी सहायता या फरियाद के लिए उनके पास न पहुँचा हो। स्नेह और सहायता ने सारे समुदाय का मन जीत लिया, सभी उन्हें अपना कुटुंबी-संबंधी मानने लगे और पूरी तरह उनके साथ घुल-मिल गए।

एक उच्च परिवार की ग्रेजुएट महिला उस इलाके में टहलने आया करती थी। एक लोकसेवी का इतना बड़ा परिवार और बिना धन वितरण किए उनका इतना समर्थन, सहयोग एवं उनका स्वयं का उत्थान उसे जादू जैसा लगा। वह अधिकाधिक गंभीरता से सब देखती गई। अंत में उसने भी निश्चय किया कि वह इसी प्रकार का जीवन जिएगी और ऐसा ही जीवन बिताएगी। उसने कागाबा के सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखा, वे हँसे-अपना घर, कार्यक्रम तथा दारिद्रय बताया, लोकसेवा में व्यस्तता भी। ऐसी दशा में वे पत्नी की नई जिम्मेदारियाँ कैसे उठा सकते थे? पूरी बात स्पष्ट हो गई। युवती ने कहा, "वह भी उसी प्रकार ट्यूशन करके गुजारा करेगी। बच्चे पैदा होने की स्थिति न आने देगी। सिर्फ साथ रहने और कार्यों में हाथ बँटाने की आज्ञा चाहती है।" कई महीने प्रसंग चलता रहा ताकि जल्दबाजी में कोई गलत कदम न उठ जाए। विवाह हो गया और साथ ही सेवा कार्य भी दूनी प्रगति से होने लगा। अब तक मात्र शरीर और वचन भर से सेवा थी, अब दोनों ने निश्चय किया कि जरूरतमंदों के लिए वे संपन्न लोगों से कुछ माँगकर लाया करेंगे। पैसा मिलने लगा और अनेकों रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उस क्षेत्र में चलने लगीं।

चर्चा धीरे-धीरे पूरे जापान में फैली। धनिकों, उदारमनाओं ने कई सुधारात्मक कार्यक्रम उस क्षेत्र में आरंभ किए। इसके बाद सरकार का ध्यान उस ओर गया, उसने सहायता की और कार्य की उपयोगिता देखते हुए पिछड़ों की सहायता के लिए एक अलग से विभाग ही बना

दिया। कागाबा उसके इंचार्ज बनाए गए, करोड़ों रुपया साल का बजट पास हुआ और उस धन का उपयोग ऐसी सुव्यवस्था के साथ हुआ कि कागाबा के जीवनकाल में ही उस देश में कहीं पिछड़ापन न रहा और जो दुष्प्रवृत्तियाँ उस क्षेत्र में पनपी थीं, वे जड़ मूल से उखड़ गईं।

कागाबा और उनकी पत्नी पूर्ण आयु तक जिए, वे मरते दम तक पिछड़ों की सेवा कार्य में लगे रहे। उन्हें निजी क्षेत्र से तथा सरकारी क्षेत्र से इन कार्यों के लिए विपुल सहायता मिली। इसका कारण था–उपलब्ध धन का श्रेष्ठतम सदुपयोग, कहीं एक पैसे की भी गड़बड़ी न होने देना। इस स्थिति ने हर किसी के मन में श्रद्धा उत्पन्न की, सहायता भी दी और उससे भी अधिक उनकी सहायता भी की।

कागाबा अब नहीं हैं, उन्हें और उनकी पत्नी को गुजरे मुद्दतें बीत गईं, पर उनकी चर्चाएँ पाठ्य पुस्तकों से लेकर छोटे-बड़े इतिहासों, ग्रंथों के पृष्ठों पर बड़े सम्मान के साथ अंकित हैं। उन दोनों के चित्र जापानवासियों के घरों में अभी भी उसी श्रद्धा के साथ टाँगे जाते हैं जैसे कि भारत में शिव-पार्वती या सीता-राम के।

कागाबा को जापान का गांधी कहा जाता है। समीक्षकों और सलाहकारों की कागाबा से अकसर भेंट होती रहती थी। वे लोग कहते थे–"हम लोगों की सलाह के अनुसार आप कहीं बैरिस्टर, अफसर, उद्योगपति, नेता या और कुछ बने होते तो स्वयं को, अपने देश को और समूची मानवता को संभवतः इस प्रकार धन्य न बना पाते जैसा कि आपने पिछड़े लोगों के लिए श्रम करते हुए, कष्ट सहते हुए बनाया।" साथियों में से जिनने संपदा कमाई और मौज उड़ाई वे अपनी तुलना कागाबा से करते तो अपने को मूर्ख और उन्हें बुद्धिमान बताते। सच्ची बुद्धिमानी और गहरी सफलता इसी मार्ग में है कि मनुष्य अपने को सेवा प्रयोजन के लिए उत्सर्ग करे और असंख्यों के लिए एक आदर्श, एक उदाहरण बने।

उनने खोने से अधिक पाया—सरदार पटेल

सरदार पटेल को सर्वमान्य जन काँग्रेस नेता और सरकार के गृहमंत्री मानते हैं। काम भी उतने ही याद रखते हैं जितने उन दोनों उत्तरदायित्वों के साथ जुड़े रहे और व्यवस्थापूर्वक संपन्न होते रहे।

इतना तो हर आँख वाला देख सकता है और हर कान वाला सुन सकता है किंतु आवश्यकता इस बात की है कि हम कामों के गिनने की अपेक्षा उन गुणों और स्वभावों को ढूँढ़ें जिनके कारण सामान्य स्तर के मनुष्य पर्वत की ऊँचाई तक उठते हैं एवं सभी के लिए आश्चर्य बन जाते हैं।

सरदार पटेल गुजरात के खेड़ा जिले के एक छोटे से गाँव में पैदा हुए। खेती मजे में गुजारा कर देती थी, परिवार के दूसरे सदस्य उसी में व्यस्त रहते थे। यदि प्रवाह के साथ बहा गया होता तो बल्लभ भाई भी उसी में बह रहे होते और जुताई, सिंचाई, बुआई, कटाई का पुश्तैनी धंधा चलाते हुए निर्वाह कर रहे होते। चिंतन को यदि विशेष रूप से उभारा न जाए तो वह परंपरागत रीति-नीति अपनाता है और कोल्हू के बैल की तरह ऊपरी धुरी के इर्द-गिर्द घूमता है। सामान्य जन इसी प्रकार मौत के दिन पूरा करते हैं, उन्हें न नया सोचने का कष्ट उठाना पड़ता है और न नया करने के लिए मार्ग ढूँढ़ना एवं नया सरंजाम जुटाने के झंझट में बिखरना पड़ता है।

उन दिनों स्कूली पढ़ाई का शौक शहरों से बढ़कर देहातों तक भी पहुँचने लगा था। पड़ोस के गाँव में स्कूल-कॉलेज भी था। इच्छा व्यक्त की तो घर वालों ने रोका भी नहीं, उनके श्रम बिना कोई काम रुका भी न था और इतनी आर्थिक तंगी भी नहीं थी कि पढ़ाई का खरच पूरा न किया जा सके। वे पढ़ते रहे और अंततः पड़ोस की तहसील में ही वकालत करने लगे। प्रतिष्ठित परिवार, प्रतिभाशाली व्यक्तित्व, हाथ में लिए हुए काम के प्रति पूरी दिलचस्पी और मेहनत, इतना होना इस बात के लिए पर्याप्त है कि कोई व्यक्ति महान बने और महानता की हर शोभा-सज्जा से अपने आप को सुशोभित करे।

गांधीजी का सत्याग्रह संग्राम आरंभ हुआ, देश का हर स्वाभिमानी युवक तिलमिला उठा। मातृभूमि की पराधीनता और सारे समाज पर लगी हुई पराधीनता की कलंक-कालिमा का जब तक एहसास नहीं हुआ था तब तक लोग उनींदे बैठे रहे, पर जब जाग्रति की लहर आई तो जो जीवित थे, वे सभी तनकर खड़े हो गए। कांग्रेस में भरती होने का उन दिनों तात्पर्य था-सरकार से दुश्मनी मोल लेना, जेल जाना,

जुरमाना वसूल किया जाना और किसी शासकीय संदर्भ में अयोग्य ठहराया जाना। इन कठिनाइयों को वे स्वयं भी जानते थे, विशेष रूप से उनके प्राय: सभी साथी वकीलों ने यह समझाया कि चैन की जिंदगी और अच्छी कमाई को ठुकराकर अपने को परेशानी में डालना अच्छा नहीं। घर वाले भी विरुद्ध थे, उन दिनों किसी को स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि स्वराज्य मिलेगा और उसमें जेल जाने वालों को कोई सम्मानित पद भी मिल सकते हैं। किंतु इन स्वप्नों से सर्वथा दूर रहते मातृभूमि की स्वाधीनता का प्रश्न ऐसा था जिसके निमित्त गैरतमंदों को कुछ कर गुजरने की अदम्य उमंग उठी।

पटेल ने आत्मा की पुकार सुनी और सब समझाने वालों को नमस्कार कर लिया। वे कांग्रेस के कार्यकर्त्ता बने और सत्याग्रह में सम्मिलित होकर जेल गए। लड़ाई लंबी चली और वह दावानल की तरह देश के कोने-कोने में फैली। पटेल ने अपने प्रभावक्षेत्र बारदोली इलाके को व्यापक लगानबंदी के लिए तैयार कर लिया। इस मार्ग में उन्हें क्या कठिनाई उठानी पड़ेगी-यह भलीभाँति समझा दिया। किसान चट्टान की तरह प्रतिज्ञा पर दृढ़ हो गए और उस समूचे क्षेत्र में किसानों ने सरकार से सीधी टक्कर ली। एक भी पैसा लगान के नाम पर देने से इनकार कर दिया। फलस्वरूप जब्तियाँ, कुर्कियाँ और गिरफ्तारियाँ हुईं, पर पटेल के नेतृत्व में वह समूचा समुदाय इतना दृढ़ निश्चयी निकला कि सरकार को किसानों की शर्तें मानने और समझौता करने पर विवश होना पड़ा।

स्वतंत्रता मिली, सरदार पटेल पार्लियामेंट मेंबर चुने गए और गृहमंत्री नियुक्त हुए। उनके सामने एक से एक बड़ी समस्याएँ आईं, सबसे बड़ी समस्या थी देश की लगभग ६०० रियासतों को केंद्र शासन में सम्मिलित करना। अधिकांश राजा अपनी संपत्तियाँ और अधिकार छोड़ने को तैयार न थे, पर पटेल ही थे जिनने साम, दाम, दंड, भेद की नीति से सभी राजाओं को केंद्र में सम्मिलित होने के लिए बाधित कर दिया। हैदराबाद और जूनागढ़ की रियासतों के साथ सख्ती बरतनी पड़ी और गोवा, पांडिचेरी आदि को राजनीतिक दाँव-पेचों से काबू में लाया गया। पटेल की इस साहसिकता को संसार भर में अद्‌भुत माना गया।

मध्यकालीन विदेशी आक्रमणकारियों ने यों मंदिर तो अनेक तोड़े और लूटे थे, पर उन सबमें सोमनाथ मंदिर मूर्द्धन्य था। उसके विनष्ट कर दिए जाने से सारे हिंदू समाज में भारी क्षोभ और निराशा फैली। उस घाव को भरने के लिए सरदार पटेल ने सोमनाथ मंदिर के जीर्णोद्धार का काम हाथ में लिया और उस ध्वंसावशेष को नए सिरे से इस प्रकार बनाया कि पुराने की तुलना में उसे दसियों गुना शानदार माना जाने लगा। इस निर्माण से सारे समाज में एक उल्लास और संतोष की लहर उभरी।

सरकारी स्कूल-कॉलेजों का जिन दिनों बहिष्कार हुआ था उन दिनों निकले हुए छात्रों की शिक्षा का नया प्रबंध करना आवश्यक प्रतीत हुआ। इसके लिए गुजरात विद्यापीठ की स्थापना हुई, उसने हजारों सुयोग्य व्यक्ति ऐसे विनिर्मित करके दिए जो गुजरात के ही नहीं, सारे देश के पुनरुत्थान में भारी योगदान देते रहे। तब की गुजरात विद्यापीठ अब विकसित होकर शानदार यूनीवर्सिटी में परिणत हो गई है, इसे सरदार पटेल के कर्तृत्व का एक शानदार स्मारक कह सकते हैं।

पटेल का व्यक्तित्व इतना सरल, सौम्य, कर्मठ और खरा था कि उनका लोहा पक्षधर और विपक्षी समान रूप से मानते रहे। कांग्रेस आंदोलन को 'करो या मरो' का नारा उन्होंने ही दिया था और परिस्थितियाँ इतनी विकट पैदा कर दी थीं जिन्हें पार करना ब्रिटिश सरकार के लिए संभव न रह गया था, उन्हें देश का दूसरा चाणक्य समझा जाता था। वस्तुतः पटेल ऐसे हीरक बने जिनकी कीर्ति ने भारत माता के मुकुट को बहुमूल्य रत्न बनकर जगमगाया।

उनके जीवन का मोड़ वहाँ से शुरू होता है, जहाँ एक ओर पुरातन प्रवाह एवं वकालत का वैभव था और दूसरी ओर देश, धर्म, समाज, संस्कृति का पुनरुत्थान। उनने दूसरा मार्ग चुना, क्या वे घाटे में रहे ? एक नया मार्ग चुनकर उनने तात्कालिक प्रलोभनों को कुचला तो जरूर, पर यश, पद, गौरव और आदर्श के क्षेत्र में वे इतने ऊँचे उठे जिसकी प्रशंसा हजारों वर्षों तक मुक्तकंठ से होती रहेगी।

❐

देकर पाने वाले सच्चे भगवद्-भक्त लोकसेवी

भगवान की भक्ति के नाम पर लोग ऐसी विडंबनाएँ रचते रहते हैं, जिनमें पूजा-पाठ जैसी कुछ खिलवाड़ तो होती रहे, पर बदले में ऋद्धि-सिद्धियाँ, चमत्कारों और वरदानों का जखीरा लूट के माल की तरह हाथ लगे। कई स्वर्ग और मुक्ति का वैभव स्वर्ग लोक में पहुँचकर बटोरना चाहते हैं। कइयों को दर्शन की इच्छा होती है मानो किसी रूपसी की समीपता का रसास्वादन करना चाहते हों। ५ रुपये की मिठाई मनौती के लिए चढ़ाकर मालामाल बनने और मुफ्त में बढ़-चढ़कर सफलताएँ प्राप्त करने की हवस तो इस समुदाय के अधिकांश लोगों को होती है। कहीं-कहीं रात भर नाच-कूद चलते हैं ताकि भगवान की नींद हराम करके जितना कुछ लपक सकना संभव हो, लपक लिया जाए। बच्चों को बहलाने-फुसलाने या चिड़ियाँ-मछलियाँ पकड़ने की धूर्तता तो कितने ही करते हैं। भगवान की दुकान को आँखों में धूल झोंककर लूट लाने का कुचक्र तो उस क्षेत्र में आमतौर से रचे जाते देखा जा सकता है।

यथार्थता की कसौटी पर कसे जाने के उपरांत स्पष्ट होता है कि भगवान का दरबार 'अंधेर नगरी-बेबूझ राजा' की उक्ति चरितार्थ नहीं करता। वहाँ उन्हीं को अनुकंपा का अनुदान मिलता है, जिन्हें प्रामाणिकता और उदारता की कसौटी पर खरा कस लिया जाता है। भक्ति का सीधा अर्थ होता है-सेवा अर्थात लोकमंगल। यह उन्हीं से बन पड़ता है, जो अपने को हर दृष्टि से संयम की आग में तपाते हैं। औसत नागरिक का जीवन जीकर उससे ऐसा कुछ बचा लेते हैं जिसे समयदान, अंशदान के रूप में दरिद्र नारायण के चरणों पर अर्पित किया जा सके। सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन में उसका बढ़ा-चढ़ा उपयोग किया जा सके। सच्चे भगवद्-भक्त इसी स्तर के होते रहे हैं और बदले में आत्मसंतोष, लोकसम्मान और दैवी अनुग्रह का प्रत्यक्ष प्रतिफल उपलब्ध करते रहे हैं।

सुदामा का उदाहरण सामने है। उनका विशालकाय गुरुकुल था। सुयोग्य अध्यापन और वातावरण जहाँ भी होगा, वहाँ छात्रों की कमी न रहेगी। पुरातनकाल में गुरुकुल विश्वविद्यालय ही छात्रों के शिक्षण और निर्वाह की दोहरी व्यवस्था वहन करते थे, पर उस क्षेत्र में उदारचेताओं की कमी पड़ जाने से गुरुकुलों के ऊपर भारी आर्थिक कठिनाई लदी रहने लगी। आसरा किसका लिया जाए? सोचा गया कि भगवान को पकड़ा जाए। वे द्वारिका पहुँचे। कृष्ण ने स्थिति को जाना और अपनी संपदा कुटुंबियों के विलास हेतु छोड़ने की अपेक्षा यह उचित समझा कि जो पास में है, वह सब कुछ उच्च आदर्श के हेतु विसर्जित कर दिया जाए। द्वारिकापुरी की सारी संपदा उठकर सुदामापुरी चली आई। लक्ष्मीनारायण की अनुकंपा ऐसों को ही प्राप्त होती है, जेबकटी का रास्ता अपनाने वालों को नहीं।

भक्तों में एक आते हैं–विभीषण। उनने अनीति में सगे भाई का भी साथ नहीं दिया। अपमान एवं अभाव सहते रहे और समय आने पर अपनी समूची वफादारी उस न्याय और नीति के पक्ष में समर्पित कर दी, जिसे प्रकारांतर से भगवान कहते हैं। भगवान के दरबार से कोई खाली हाथ नहीं आता। उसे सोने की लंका और अद्वितीय विदुषी मंदोदरी का लाभ मिला। ऐसे ही प्रसंग सिद्ध करते हैं कि भगवान भक्त-वत्सल और विभूतियों के अधिपति हैं।

सच्चे भक्तों की श्रेणी में सुग्रीव का नाम आता है। राम के साथ अनीति हुई। दुष्टों ने सीताहरण कर लिया। खोजने के लिए दूतों और लड़ने के लिए सैनिकों की आवश्यकता हुई। भक्त सुग्रीव ने जो कुछ भी अपने पास था मुक्तहस्त दे दिया। दानी की खाली हुई जेबें भगवान भर देते हैं। सुग्रीव को अपना खोया राज्य और परिवार वापस मिल गया। भगवान की उदारता में कमी नहीं, पर उसे पाने के लिए घंटी हिला देना भर काफी नहीं। सदुद्देश्यों के लिए बढ़-चढ़कर त्याग-बलिदान प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

मनुष्य की चालाकी में कमी नहीं। उनका वश चले तो उनके निवास और परिवार को भी बेच खाएँ। पर भक्त ऐसा नहीं कर सकते।

सुग्रीव के सभी साथी-सहचर समुद्र पर पुल बनाने और लंका का दमन करने के लिए निहत्थे होते हुए भी गए थे। नल-नील ने इंजीनियर का कौशल दिखाया था। बेचारी गिलहरी तक बालों में बालू भरकर समुद्र पाटने के लिए पहुँची थी। उसने राम की हथेली पर बैठकर दुलार भरा वह प्यार पाया जिसके लिए तथाकथित योगी-यती तरसते ही रहते हैं। भगवान का दर्शन पाने की जिन्हें सचमुच ललक है, उन्हें गिलहरी जैसा पुरुषार्थ और जटायु जैसा अनीति के विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए, चाहे प्राण भले ही देने पड़ें। घायल जटायु को भगवान ने अपने आँसुओं से स्नान कराया था। जो इस झंझट से बचकर पंचामृत से शालिग्राम को स्नान कराने पर संपदाओं की गठरी लूटना चाहते हैं, उन्हें उनकी क्षुद्रता उस स्थान तक पहुँचने ही नहीं देती, जहाँ वे पहुँचना चाहते हैं।

हनुमान का समर्पण सर्वविदित है। राम का पक्ष न्याय का था और रावण का अन्याय का। धर्म की रक्षा और अधर्म का उन्मूलन करना ही अवतार का और उसके अनुयायियों का कर्त्तव्य है। इसमें चाहे निजी हानि कितनी ही होती हो, कठिनाई कितनी ही उठानी पड़ती हो। हनुमान ने यही किया। वे किसी व्यक्ति विशेष के दास या चाकर नहीं थे, उन्होंने नीति को विजयी बनाने के लिए लंका दहन, संजीवनी पर्वत उखाड़ने के अनेकानेक कष्ट सहे, पर क्या वे घाटे में रहे? सुग्रीव के यहाँ साधारण सेवक की तरह कार्य करने का बंधन छूटा और वे देवताओं की गणना में गिने गए। राम पंचायत में छठे सदस्य बने और संसार भर में पूजे गए। जितने मंदिर राम के हैं उससे कहीं अधिक हनुमान के हैं। उन्हें जो बल, पराक्रम, विवेक, कौशल, यश प्राप्त हुआ, वह सब उस भक्ति का प्रतिफल था जो सच्चे अर्थों में कर्त्तव्यपरायणता और उदार साहसिकता से भरी-पूरी थी।

निषादराज की कथा प्रख्यात है। राम मिलन के लिए सेना समेत भरत के संबंध में उसने समझा कि वे लोग राम को मारकर निष्कंटक राज करने जा रहे हैं। निषाद ने भरत की सारी सेना को गंगा में डुबा देने

की तैयारी कर ली। पीछे वस्तुस्थिति विदित होने पर डुबोने की अपेक्षा खरचीले आतिथ्य की व्यवस्था सीमित साधनों में उसने की। भक्ति इसी को कहते हैं, जिसमें अनीति से लड़ना और नीति का समर्थन करना होता है।

शबरी के जूठे बेर भगवान ने खाए थे, पर वह सुयोग तब बना जब उस भीलनी ने मातंग ऋषि के आश्रम का समीपवर्ती रास्ता साफ बनाए रखने का व्रत वर्षों निभाया था।

अर्जुन के घोड़े भगवान ने चलाए, वे सारथी बने, पर कदम उठा तब जब दैन्य-हीनता का भाव मिटाकर विशाल भारत बनाने की योजना कार्यान्वित करने के लिए वह तैयार हुआ। बलि के द्वार पर भगवान भिक्षा माँगने पहुँचे थे ताकि पृथ्वी पर सुव्यवस्था का अवसर मिल सके। द्रोपदी को उन्होंने लाज बचाने हेतु वस्त्र इसलिए दिया था कि वह इससे पूर्व एक संत को वस्त्रहीन देखकर अपनी आधी साड़ी फाड़कर दान दे चुकी थी। भगवान दानी तो अवश्य हैं। एक बीज के बदले हर वर्ष हजारों फूल, फल, बीज देते हैं। पर यह होता तभी है जब आरंभ में एक बीज अपने को मिट्टी में मिलाकर गला देने के लिए तैयार होता है। भक्ति और उसके वरदान मिलने की बात इसी प्रकार सोची जा सकती है। मीरा को विष के प्याले और सर्पों के पिटारे से इसलिए बचाया था कि वह राणा के भयंकर प्रतिबंधों की चिंता न करते हुए गाँव-गाँव, घर-घर भक्ति का अमृत बाँटने के लिए प्रचार यात्रा पर निकल पड़ी थी।

वीरपुर (गुजरात) के बापा जलाराम को भगवान ने दर्शन भी दिए और अखंड अन्नपूर्णा भंडार वाली झोली दी थी, किंतु यह अनुग्रह पाने से पहले जलाराम यह व्रत निभाते रहे थे कि वे दिन भर खेत में काम करेंगे और पत्नी सत्पात्रों को तब तक भोजन पकाती-खिलाती रहेगी जब तक घर में अनाज रहे। भगवान उदार तो हैं पर उन्हीं के लिए जो प्रामाणिकता और उदारता की कसौटी पर खरे सिद्ध हो सकें। छल करने वालों के लिए उनका 'छलिया' नाम भी प्रसिद्ध है। दुष्टों के दमन में उनका 'रुद्र' रूप ही परिलक्षित होता है।

भगवान का दृश्य और प्रत्यक्ष रूप विराट ब्रह्म ही है, जिसे अर्जुन, यशोदा, कौशल्या, काकभुशुंडि जी आदि ने देखा था। इसे विश्व उद्यान या जनता जनार्दन भी कह सकते हैं। लोकसेवा के रूप में भक्ति की यथार्थता का परिचय जिस प्रकार दिया जा सकता है उतना और किसी प्रकार नहीं।

सुदामा के पैर धोकर भगवान ने पिए थे। भृगु की लात सीने पर खाई थी। यह ब्राह्मण की गरिमा को अपने से बड़ी बताने के उद्देश्य से भगवान ने किया था। ब्राह्मण वे हैं, जो गृहस्थी सँभालते हुए क्षेत्रीय सेवा साधना की योजना में संलग्न रहते हैं और अपना निर्वाह अपरिग्रही की तरह करते हैं। साधु, ब्राह्मण वर्ग का वह पक्ष है जो विरक्त वानप्रस्थ रहकर परिव्राजक की तरह अलख जगाता–वायु की तरह प्राण सँजोता और बादलों की तरह सद्विचारों का अमृत बरसाता है। इस वर्ग को श्रेष्ठ, पूज्य और भगवान के अधिक समीप इसलिए माना गया है कि वे भगवान के परमार्थपरक प्रयोजनों में निरंतर लगे रहते हैं, अपने स्वार्थ साधन को सर्वथा भुलाए रहते हैं।

भगवान की भक्ति में घाटा उन्हें पड़ता है जो पूजा पाठ का दाना बिखेरकर चिड़ियों की तरह देवी-देवताओं को बहकाने-फँसाने में लगे रहते हैं। किंतु जिन्हें सेवा धर्म प्रिय है, जो लोकसेवा को भगवान का अविच्छिन्न अंग मानते हैं, वे जितना बोते हैं उससे अनेक गुना पाते हैं। मक्का का एक बोया हुआ दाना हजारों मक्का के दानों का समुच्चय बनकर वापस लौटता है। इसी प्रकार भक्ति का वास्तविक स्वरूप यदि सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन और दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन के रूप में चरितार्थ किया जाए तो भक्त भगवान के प्राणप्रिय बनते हैं। नारद कभी–कभी विष्णु लोक जा पहुँचते थे। यह छूट उन्हें इसलिए मिली थी कि वे भक्ति प्रचार के लिए, धर्म विस्तार के लिए निरंतर भ्रमण करते रहते थे। ढाई घड़ी से अधिक एक स्थान पर खड़े न होते थे। भगवान बुद्ध को मनुष्य होते हुए भी भगवान कहलाने का श्रेय इसलिए मिला कि संसार में फैले हुए अभाव को मिटाने और सर्वत्र धर्मचक्र प्रवर्तन की प्रक्रिया गतिशील करने के लिए अपने को उन्होंने पूर्णतः समर्पित कर दिया

था। सेवाभावी जहाँ का नेतृत्व करता है, वहाँ प्रत्यक्ष और परोक्ष इतने लाभ पाता है, जो त्याग की तुलना में हजारों गुने अधिक होते हैं।

आगे बढ़े तो पाया

जीव की मूल सत्ता शुक्राणु के रूप में इतनी छोटी होती है कि आँख से देखी भी नहीं जा सकती, किंतु भ्रूण में प्रवेश करने के बाद माता की शरीर संपदा उसे मिलने लगती है और नौ महीने में वह इस योग्य हो जाता है कि बाह्य संसार में प्रवेश कर सके। इसके बाद भी माता दूध पिलाने, खिलाने, पहनाने, सफाई रखने जैसी अनेकों सुरक्षात्मक सावधानियाँ रखती है। यदि ऐसा न करे, तो बालक का जीवित रह सकना संभव नहीं। अब पिता की बारी आती है। पोषण, शिक्षण, स्वावलंबन, विवाह आदि के लिए वह अपनी कमाई का अधिकांश भाग खरच करता है और सभ्य-शिक्षित बनाने में योगदान देता है। इन सहायताओं के बल पर मनुष्य आगे बढ़ता है। यदि उसे उपर्युक्त सभी प्रसंगों में अपने पैरों खड़े होना पड़े तो वह क्या कुछ बन सकेगा ? इस संबंध में असमंजस और संदेह ही बना रहेगा।

सुसभ्य छत्रछाया में सभी को विकसित होने का असाधारण अवसर मिलता है। चतुर माली बगीचे को ऐसा नयनाभिराम और लाभदायक बना देता है, उसे देखकर दर्शकों तक को प्रशंसा करनी पड़ती है। सुव्यवस्थित गुरुकुलों में पढ़कर छात्र अत्यंत मेधावी नर-रत्न बनकर निकलते रहे। यह कार्य कोई विद्यार्थी अपने आप पोथी पढ़कर संपन्न नहीं कर सकता है। पहलवान अखाड़ों में ही बना जाता है। अभिनेता बनने के लिए रंगमंच चाहिए। प्रगति के लिए आवश्यक वातावरण, मार्गदर्शन एवं अनुदान-इन सभी की आवश्यकता पड़ती है। स्व-उत्पादित तो जंगलों के झाड़-झंखाड़ ही होते हैं। अनगढ़ चट्टानें देव प्रतिमाओं का कलेवर धारण नहीं कर सकतीं, इसके लिए निर्माता-कलाकार चाहिए। आभूषण भी हर कोई नहीं बना सकता। यह स्वर्णकार का ही कौशल है जो अनगढ़ धातु खंडों को अपनी कलाकारिता से ऐसे आभूषणों में बदल देता है, जिससे सिर और गले तक की शोभा बढ़ती है, नाक-कान तक सजते हैं, उँगली के पोरवे भी।

व्यक्ति की भौतिक अथवा आत्मिक प्रगति के लिए किसी सहायक मार्गदर्शक की आवश्यकता पड़ती है। गायक, वादक, मूर्तिकार, चित्रकार आदि को किसी न किसी निष्णात के यहाँ शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है। आत्मिक क्षेत्र में तो यह एक प्रकार से अनिवार्य है, नितांत आवश्यक। जिस प्रकार भ्रूण बिंदु को माता का रस-रक्त चाहिए उसी प्रकार आत्मिक प्रगति के लिए ऐसे संरक्षक-परिपोषक की आवश्यकता पड़ती है जो अपने विषय का पूर्ण पारंगत भी हो और साथ ही उतना उदार भी कि अपनी उपार्जित संपदा को बिना संकोच के 'इच्छुक' को उदारतापूर्वक हस्तांतरित करता रहे।

चर्चा गुरु-शिष्य संयोग-सुयोग की हो रही है। उसमें प्रमुखता एवं वरिष्ठता गुरु की ही है, क्योंकि वह अपने विषय का धनी भी होता है और दानी भी। इतिहास साक्षी है कि जहाँ-कहीं, जब कभी कोई महत्त्वपूर्ण प्रसंग सामने आया है, तब उसमें गुरु की प्रत्यक्ष और परोक्ष भूमिका अपना चमत्कार प्रस्तुत करती दिखाई दी है। यों भटकते-पूछते भी पथिक देर-सबेर में ठिकाने तक जा पहुँचते हैं, पर उन्हें वह सुगमता और सफलता नहीं मिलती जो गुरु और शिष्य का संयोग बनने पर संभव होती है। इस तथ्य को समझते हुए निराश एकलव्य को द्रोणाचार्य की प्रतिमा मिट्टी से बनानी पड़ी थी। श्रद्धा के बल पर उसने उस खिलौने को असली द्रोणाचार्य से कहीं अधिक सुयोग्य एवं सहायक शिक्षक बना लिया था।

विश्वामित्र यज्ञ रक्षा के बहाने राम-लक्ष्मण को अपने तपोवन में ले गए थे। वहाँ उन्हें बला और अतिबला गायत्री और सावित्री की रहस्यमयी जानकारी दी थी। फलतः सीता स्वयंवर जीतने, लंका विजय करने, राम राज्य की प्रतिष्ठा करने एवं भगवान कहे जाने की स्थिति तक वे पहुँचे थे। ऐसा सुयोग भरत, शत्रुघ्न को नहीं मिला था। उन्हें सामान्य स्थिति में रहना पड़ा। वे विश्वविख्यात न बन सके।

नारद के परामर्श से भगीरथ गंगावतरण में प्रवृत्त हुए थे। उन्हीं का निर्देशन परशुराम को मिला था कि संव्याप्त अनीति के धुर्रे बिखेर दें। वे परामर्श मात्र देकर चले नहीं गए थे, वरन आदि से अंत तक

उनकी साज-सँभाल करते और कठिनाइयों का समाधान करते रहे थे। नचिकेता ने यमाचार्य से पंचाग्नि विद्याएँ प्राप्त की थीं और वे उस आधार पर ऊर्जा विज्ञान की समग्रता एवं प्रवीणता उपलब्ध कर सके थे। गुरुकुल की महत्ता इसी दृष्टि से थी कि वहाँ पुस्तकें ही नहीं पढ़ाई जाती थीं, वरन छात्र में नए प्राण फूँकने और तुच्छ से महान बनाने की प्रक्रिया भी संपन्न की जाती थी।

भारतीय संस्कृति की पुण्य परमात्मा में माता-पिता के अतिरिक्त संरक्षकों की तीसरी पदवी गुरु की है। यही प्रत्यक्ष त्रिदेव हैं। शिव के बिना जिस प्रकार देव समुच्चय अधूरा रहता है, उसी प्रकार उच्चस्तरीय शिक्षार्थी भी उपयुक्त गुरु के अभाव में अनाथ-अपंग की स्थिति में पड़ा रहता है। अभाव, अज्ञान एवं अशक्ति से उफनते इस भवसागर जैसे महानद को सुरक्षित रूप से पार करने के लिए जिस मजबूत पतवार वाले जहाज की जरूरत है, उसे ही गुरु कहा गया है।

महानता के पुरातन इतिहास में गुरु महिमा की जितनी बड़ी भूमिका रही है, उतनी किसी और की नहीं। इसलिए भावनाशील शिक्षार्थी गुरुदक्षिणा में आचार्य को मुँहमाँगा अनुदान अपनी समूची सामर्थ्य को भी न्योछावर करते हुए हर संभावना को साकार कर दिखाते थे। हरिश्चंद्र ने अपना राजपाट ही नहीं, शरीर और परिवार तक इस गुरुदक्षिणा के निमित्त समर्पित कर दिया था। वाजिश्रवा, हरिश्चंद्र और बिंबसार की भी ऐसी ही कथाएँ हैं। जो पाया था, उसका मूल्य चुकाते समय इन भावनाशील शिष्यों ने कृपणता का परिचय नहीं दिया। आरुणि, उद्दालक, सत्यकेतु और द्रुपद की कथाएँ सुप्रसिद्ध हैं और उनके गुरु ने अनुदानों को देखते हुए शिष्यों के लिए उपयुक्त प्रतिदान प्रस्तुत करने में भी कोताही नहीं की थी।

कुछ ही शताब्दियों के बीच घटित हुई घटनाओं में कई ऐसी हैं जो रहस्यमय तथ्यों का उद्घाटन करती हैं। भगवान बुद्ध ने अपने तपोबल से अनेकों को भागीदार बनाया और उनसे बड़े काम कराए। कुमारजीव को उन्होंने समूचे चीन का धर्मगुरु बना दिया। मंचूरिया, मंगोलिया, कोरिया, जापान तक में वह दूसरा बुद्ध माना जाने लगा था। तथागत का कार्यक्रम

एक केंद्र से धर्मचक्र प्रवर्तन की धुरी घुमाना था। वे स्वयं समूचे संसार और एशिया में किस प्रकार भ्रमण करते? उन्होंने अंगुलिमाल, अंबपाली जैसों का कायाकल्प किया और उनके द्वारा पूर्वी-दक्षिणी एशिया में नवीन चेतना जगाई। एक दुर्दांत डाकू उच्चकोटि का धर्मप्रचारक बन गया और अनेकों की पर्यंकशायिनी नर्तकी अंबपाली ने सुविस्तृत क्षेत्र के नारी समुदाय में ऐसा प्राण फूँका मानो किसी ने उस तपती जमीन पर अमृत बरसा दिया हो। वह देवी में बदल गई, साध्वी हो गई। क्या यह पतित समझा जाने वाला परिकर बिना गुरु कृपा के ऐसी स्थिति में पहुँच सकता था कि उनके चरणों पर कोटि-कोटि जन समुदाय के पलक-पाँवड़े बिछे। बिंबसार ने राज्यकोष बौद्ध विहार बनाने में चुका दिया और हर्षवर्द्धन ने तक्षशिला विश्वविद्यालय का समूचा भार उठाया। लगता है कि इन शिष्यों को घाटे में रहना पड़ा, पर उस घाटे पर कुबेर जैसे रत्न-भंडारों को न्योछावर किया जा सकता है, जिसने मनुष्यों को देवताओं से बढ़कर सम्माननीय बना दिया। कोटि-कोटि कंठों से गदगद कंठ में जिनकी यशोगाथा गाई गई। ऐसा सौभाग्य क्या किसी छोटी-मोटी धनराशि और सुख-संपदा से लाखों गुना बढ़-चढ़कर नहीं है ? बुद्ध के अवतार होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनने सामान्य स्तर के लोगों को लाखों की संख्या में महामानवों की पंक्ति में बिठाया। समर्थ गुरु के अभाव में यह लाखों भिक्षुओं और भिक्षुणियों की धर्म सेवा विश्वमानस का नवनिर्माण करने के लिए निकल न पाती।

तपस्वी चाणक्य की तप-संपदा गाय के दूध भरे थनों की तरह निस्सृत हो रही थी, पर प्रश्न यह था कि सत्पात्र खोजे बिना यह अमृत किस पर लुटाया जाए? आखिर चंद्रगुप्त मिल गया। एक क्षुद्र जाति के बालक को राजपूतों के बीच वरिष्ठता कैसे मिलती? पर चाणक्य की योजना, दक्षता और तप-संपदा थी जिसे लेकर चंद्रगुप्त भारत के गौरव में चार चाँद लगा देने में समर्थ हुआ। यह मिला तब था जब उसने अपने पराक्रम का लाभ अपने निज के लिए नहीं, समस्त राष्ट्र के लिए अर्पित करने का व्रत लिया और आश्वासन दिया था।

समर्थ गुरु रामदास और छत्रपति शिवाजी की ऐसी ही गाथाएँ हैं। गुरु ने शिष्य को और शिष्य ने गुरु को अपना निजत्व पूरी तरह समर्पित कर दिया था। रामकृष्ण परमहंस ने अपनी तप साधना विश्व संस्कृति में नई हलचल पैदा करने के लिए प्रदान की और शिष्य ने अनुभव किया कि उनके प्राण और शरीर में गुरु ही काम कर रहा है। उनने संसार भर में रामकृष्ण मिशन मठों की स्थापना की पर निजी महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर विवेकानंद नाम की कुटिया भी कहीं नहीं बनाई।

महायोगी और उद्‌भट विद्वान विरजानंद की पाठशाला में ढेरों विद्यार्थी पढ़ते थे और पढ़ाई पूरी करके कथा बाँचने, जन्मपत्री बनाने का धंधा करते थे। गुरु को आवश्यकता ऐसे शिष्य की थी जो पेट पालने और मनोकामना पूरी करने का आशीर्वाद न माँगकर अपने को देश, धर्म, समाज और संस्कृति के लिए समर्पित करे। अगणित छात्र आए और चले गए, पर एक छात्र मिला–दयानंद, जिसने आचार्य से गुरुदक्षिणा माँगने के लिए कहा और जब उन्होंने तन, मन, धन पाखंड खंडन करने के निमित्त समर्पित करने की माँग की तो शिष्य ने गुरु आदेश के लिए सर्वस्व समर्पित कर दिया। वे ब्रह्मचारी से संन्यासी बन गए और जब तक जिए, एकनिष्ठ भाव से वेद धर्म का प्रचार करने में लगे रहे। आर्य समाज के रूप में उनका दिवंगत शरीर अभी भी जीवित है। उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन के–समाज सुधार अभियान के रूप में स्मरण किया जाता है।

ऊपर की पंक्तियों में कुछ ऐसे नेतृत्व करने वाले शिष्यों का उल्लेख है जिन्होंने पुरुष से पुरुषोत्तम, नर से नारायण बनने की दिशा में कदम बढ़ाए और असंख्यों के हृदय पटलों पर अपने आसन जमाए।

आज ऐसे ही नेताओं का, शिष्यों का आह्वान हो रहा है जिन्हें विपुल सहायता प्रदान करने के लिए देवसत्ता व्याकुल है। तलाशा उन्हें जा रहा है जो इस अनुदान को पाकर अपने को और धर्म परंपरा को धन्य बनावें। खोजना गुरु को नहीं, शिष्यों को इस तरह पड़ रहा है मानो भारत माता की बहुमूल्य रत्न-राशि कहीं मिट्टी धूलि में गुम हो गई हो।

यह तथ्य याद रखा जाना चाहिए कि टंकी में पानी जब तक भरा रहता है, तब तक उसके साथ जुड़े हुए नल का प्रवाह चलता ही रहता है। बिजलीघर के साथ जुड़े हुए बल्ब, पंखे, मोटर गतिशील रहते ही हैं। समर्थ गुरुसत्ता के साथ जो जुड़ सके, उसे थकने, हारने या निराश होने की कोई जरूरत नहीं। नेतृत्व के शिक्षार्थी किसी प्रकार हताश न हों, अपने आपको समर्थता के साथ जोड़े रहने का संकल्प भर सुदृढ़ बनाए रहें।

युग नेतृत्व के उदाहरणों की शृंखला में निकटवर्ती, अभी तक जीवित व्यक्तियों को तलाशना हो तो प्रज्ञा अभियान के सूत्र संचालक को उलट-पलट कर परखा जा सकता है। उनने ऐसे अनेक काम किए हैं जिनसे असंभव शब्द को संभव में बदलने की नेपोलियन वाली उक्ति को चरितार्थ होते देखा जा सकता है। यह हाड़ मांस से बनी काया के व्यक्तित्व का कर्तृत्व नहीं हो सकता। मनुष्य की कार्यक्षमता सीमित है, कौशल और साधन भी सीमित हैं, पर असीम साधनों की आवश्यकता पड़े और वे सभी यथासमय जुटते चले जाएँ तो एक शब्द में यही कहना होगा कि यह किसी दैवी शक्ति का पृष्ठ-पोषण है। इसके उपलब्ध प्रत्यक्ष प्रमाणों से हर एक यही कहता है कि इस प्रत्यक्ष के पीछे परोक्ष भूमिका गुरुतत्त्व की है।

एक लाख 'नेता' सच्चे अर्थों में नेता विनिर्मित करने का संकल्प इतना भारी है जिसे तराजू के पलड़े में रखने के बाद दूसरे में पुरातनकाल के नालंदा और तक्षशिला विश्वविद्यालयों को रखते हुए बराबरी की बात सोचनी पड़ेगी। क्या यह सब हो सकेगा ? क्या यह संभव है ? क्या एक लाख युगशिल्पी नवसृजन में संलग्न होकर सतयुग की वापसी का वह प्रयोजन पूरा कर सकेंगे जिसे समुद्र सेतु बाँधने के समतुल्य माना जा सके। बात अचंभे की है, पर तब जब सामान्य मनुष्य की सामर्थ्य से इतने बड़े उत्तरदायित्व को तौला जाए। जब स्थिति ऐसी हो कि प्रस्तुत संकल्प की प्रेरणा, निर्धारणा, योजना ही नहीं, उसकी सफलता की जिम्मेदारी भी किसी महान शक्ति ने उठाई हो तो उसकी सफलता में किसी प्रकार का संदेह या असमंजस करने की गुंजाइश नहीं है। इस अवसर का लाभ उठाने पर वही उक्ति लागू होगी जिसमें कृष्ण ने अर्जुन से कहा था, "शत्रु को मैंने पहले ही मारकर रख दिया है, तुझे तो विजय का श्रेय भर लूटना है।"

❐

समाज को सुधारा और उभारा जाए

निर्माण का मोर्चा एकाकी ही नहीं चलता रह सकता, उसके साथ सुधार का प्रकरण भी जुड़ा रहना चाहिए। खेत में खाद-पानी भी लगता है और उसकी निराई, गुड़ाई, रखवाली भी होती है। इस काट-छाँट के बिना न कोई खेत पनप सकता है और न उद्यान। समाज में सत्प्रवृत्तियों के संवर्द्धन हेतु ज्ञान, कर्म, भक्ति की शिक्षा देना, कथा-प्रवचन करना भी आवश्यक है, पर है एक पक्षीय एकांगी ही। रसोईघर की तरह शौचालय, स्नानघर, कूड़ेदान और नाली को साफ-सुथरा रखना चाहिए अन्यथा वहाँ उत्पन्न हुई सड़न, जो श्रेष्ठ है, उसे भी बिगाड़ने, बरबाद करने में कोई कमी शेष न रहने देगी।

पुराने मकान जहाँ-तहाँ से जीर्ण होकर टूटते-फूटते रहते हैं, उनकी हाथोहाथ मरम्मत करा देने से इसी घर से मुद्दतों काम लिया जा सकता है किंतु यदि बिगड़ने की उपेक्षा बरती जाए तो जिस प्रकार एक सड़ा हुआ अवयव दूसरे समीपवर्ती अंगों को भी काटने योग्य बना देता है, पीछे बड़ी परेशानी का कारण बनता है, उसी तरह समाज का सारा ढाँचा गड़बड़ा जाएगा। इसकी अपेक्षा तो यह अच्छा है कि सुधार के लिए आवश्यक साधनों-उपकरणों को सदा तैयार रखा जाए।

द्रोणाचार्य हाथ में शास्त्र और कंधे पर शस्त्र रखकर चलते थे। गुरु गोविंदसिंह ने एक हाथ में माला और दूसरे में भाला रखने की नीति अपनाई थी। सज्जनों को प्यार एवं विवेक से भी समझाया जा सकता है किंतु पशु-प्रवृत्ति के लिए प्रताड़ना ही एकमात्र शिक्षाविधि है। हिंसक पशुओं को धमकाए बिना न आत्मरक्षा का साधन सधता है और न उन्हें सरकस में कोई कुतूहल दिखा सकने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। जिस प्रकार समाज को अध्यापकों,

साहित्यकारों, शिल्पियों की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार पुलिस और सेना को भी सशक्त बनाना पड़ता है। कचहरी-जेल का प्रबंध इसीलिए किया जाता है कि उद्दंडता पर नियंत्रण किया जा सके, अन्यथा वे विरोध न होने की दशा में दूने-चौगुने उत्साह से कुचक्र रचते एवं अनाचार फैलाते हैं। खेत का पानी मेंड़ बाँधकर रोका न जाए तो वह पौधे सींचने की अपेक्षा जमीन को काटकर खाई-खड्ड बना देगा।

अपना देश, धर्म और समाज विश्व के प्राचीनतम निर्धारणों में से है। इसलिए स्वाभाविक ही है कि उसमें विकृतियों का अनुपात बढ़े और वह पूर्वजों की गरिमा पर कलंक-कालिमा लगाने में निरत रहे और विनाश के विषबीज बोए। यही कारण है कि सदा-सदा से सुधारक वर्ग की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है, उसे सेना या पुलिस की उपमा दी जाती है। यदि वह सतर्क न रहे तो किसी की संपदा एवं इज्जत सुरक्षित न रहे। सुधारक रूपी सफाई कर्मचारी अपनी झाड़ू-टोकरी को निरंतर गतिशील न रखें तो समाज रूपी नगर में हैजा जैसी महामारी फैलने में देर न लगे।

धर्मोपदेशकों, संत, सदाचारी, परमार्थी, पुण्यात्माओं की भक्ति-भावना को जितना महत्त्व और सम्मान दिया जाता है उससे किसी भी प्रकार सुधारकों की गरिमा कम नहीं है। वे अगर अपना काम मुस्तैदी से न करें तो फिर समझना चाहिए कि वही स्थिति फिर आ पहुँचेगी जिसमें राम ने ऋषि आरण्यकों में अस्थिसमूहों के पर्वत खड़े देखे थे और तपसी वेशधारी भगवान ने भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की थी '**निशाचर हीन करहुँ महि**'। समाजसुधारकों को इसी वर्ग के रघुवंशी, तेजस्वी, क्षत्रिय कहा जा सकता है जो अपनी जान हथेली पर रखकर अनीति से टकराते और उसे उखाड़ फेंकने के उपरांत दम लेते हैं।

भारत दो हजार वर्ष तक इसलिए पराधीन नहीं रहा कि यहाँ योद्धाओं या शस्त्रों की कमी थी। बात यह हुई कि समाज को कुरीतियों, मूढ़ मान्यताओं, अंधविश्वासों ने जराजीर्ण कर दिया था और वह आक्रांताओं के छोटे-मोटे आघात भी सह न सका।

सामाजिक कुरीतियों में कितनी तो ऐसी हैं, जिनकी भयंकरता किसी प्राणघातक महामारी से कम नहीं आँकी जा सकती। बाल-विवाह, बहु विवाह, परदा प्रथा, स्त्रियों को पालतू पशुओं की श्रेणी में रखा जाना वह अनर्थ है जिसके कारण आधी जनसंख्या की स्थिति अपंग-असहाय जैसी हो जाती है और अविकसित नारियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी अधिक अयोग्य संतानें जनती जाती हैं। यह पतन का एक क्रमबद्ध सिलसिला है जिसे हर कीमत पर रोका जाना चाहिए। दहेज, खरचीली शादियाँ, वर विक्रय, कन्या विक्रय, वधू दाह, वेश्यावृत्ति इन्हीं कुरीतियों का प्रतिफल है। मध्यकाल में तो विधवाओं के भरण-पोषण के दायित्व से बचने के लिए परिवार वाले उन्हें सती हो जाने के लिए उकसाते थे और नशा पिलाकर अर्द्धमूर्च्छित स्थिति में पति की चिता पर धकेल देते थे। यह अनाचार राजा राममोहन राय ने अपनी भावज की लोमहर्षक मृत्यु के रूप में देखा था। उनने प्रतिज्ञा की कि इस नारी-वध को वे किसी भी कीमत पर रुकवाकर रहेंगे। इसके लिए उनने साहित्य लिखा, आंदोलन चलाया और सरकारी सहायता लेकर कानून बनवाया। सती प्रथा विरोध और विधवा विवाह की मान्यता उन्हीं के भगीरथ प्रयत्नों से संभव हो सकी।

मात्र अनीति रोकना ही काफी नहीं, उसका उत्तरार्द्ध सत्प्रवृत्तियों की स्थापना से बनता है। महर्षि कर्वे ने नारी शिक्षा के लिए ऐसा कारगर प्रयत्न किया कि न केवल महाराष्ट्र में वरन समूचे देश में

उसकी हवा फैली। जयपुर वनस्थली में हीरालाल शास्त्री ने बालिका विद्यालय की शानदार स्थापना की जो अब विश्वविद्यालय स्तर तक जा पहुँचा है। अलीगढ़, सासनी की एकाकी महिला लक्ष्मीदेवी ने जंगल में वीरान पड़ी भूमि को समतल बनाकर कन्या गुरुकुल बनाया। गाँवों से कन्याओं को लाने-पहुँचाने, पढ़ाने तक का आद्योपांत कार्य उनने किया और कन्या शिक्षा की लहर एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँची। प्रयत्नकर्त्ताओं का ही प्रभाव है कि जो कार्य कभी निरंतर असंभव प्रतीत होते थे, वह सरल और संभव ही नहीं व्यापक भी हो गए। आज की बढ़ती नारी शिक्षा हेतु श्रेय इन्हीं शुभारंभ करने वाले नर-रत्नों को दिया जा सकता है।

दूसरी भयावह कुरीति है जाति-पाँति के आधार पर ऊँच-नीच की मान्यता। यह सवर्ण और असवर्णों में अपने-अपने ढंग से सर्वत्र फैली हुई है। परिणाम यह हुआ है कि एक समाज हजारों टुकड़ों में बँटकर रह गया। जाति-पाँति के साथ संप्रदायवाद और भाषावाद का जहर भी घुलकर त्रिदोष जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई।

इस अराजकता जैसी अव्यवस्था से लोहा लेने के लिए कितने ही सुधारक कटिबद्ध होकर आगे आए और उन्होंने कुप्रचलनों के दुष्परिणाम सर्वसाधारण को समझाते हुए उससे विरत करने तक का घनघोर प्रयत्न किया और वह प्रयत्न इतना सफल रहा कि उस कृत्य में अनेक भावनाशील जुट गए। स्वामी दयानंद का नाम इस संदर्भ में बढ़-चढ़कर लिया जा सकता है। महात्मा गांधी का हरिजन सेवक-संघ, ठक्कर बापा जैसे समर्पितों की टोली साथ लेकर उस प्रयास में निरत ही रहा। इसके पूर्व कबीर, रैदास, तिरुवल्लुवर जैसे संत इस सुधार के लिए मजबूत पृष्ठभूमि बनाते रहे। सिख धर्म, बौद्ध धर्म,

आर्य समाज आदि ने भी इस संदर्भ में बढ़-चढ़कर काम किया। अब संविधान और शासन ने भी इस प्रकार के भेदभाव को दंडनीय अपराध ठहरा दिया है तो भी प्रगति वैसी नहीं हुई जैसी कि होनी चाहिए थी। कानून तो दहेज और रिश्वतखोरी, व्यभिचार आदि के विरुद्ध भी बना हुआ है, पर मूढ़मति और धूर्तराज उस शिकंजे से अपने आप को किसी प्रकार बचा ही लेते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि प्रज्ञा अभियान इन कमियों की पूर्ति करने के लिए अपने को पूर्णाहुति की तरह समर्पित करे और किसी भी परिवार में जाति-भेद, स्त्री उत्पीड़न की कहीं, कोई भी घटना घटित न होने पाए। परिवार, व्यक्ति और समाज की मध्यवर्ती कड़ी है, भावी पीढ़ियों और वर्तमान जन समुदाय में से नर-रत्न निकालने की खदान भी। इसलिए परिवार निर्माण में जहाँ श्रमशीलता, मितव्ययता, शिष्टता, सहकारिता, उदारता जैसे सद्गुणों का समावेश आवश्यक है उतना ही यह भी अभीष्ट है कि नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्र की किसी भी दुष्प्रवृत्ति को प्रश्रय न मिले। समाज सुधार के लिए मार्टिन लूथर ने जिस प्रकार काम किया था और पोप के पंडावाद के शोषण को उखाड़ फेंका था, उसी प्रकार की विचार क्रांति-धर्म क्रांति अपने देश में भी होनी चाहिए। मात्र वंश और वेश के कारण किसी को सम्मान न मिले और देवताओं का एजेंट बनकर कोई जन साधारण को भ्रम-जंजाल में न फँसाए। निषिद्ध व्यापारों में एक भिक्षा व्यवसाय की कड़ी भी जुड़नी चाहिए। लोकसेवी ब्राह्मण कहलाते हैं, उन्हें निर्वाह प्राप्त करने का अधिकार है। इसी प्रकार जो अपंग, असमर्थ या विपत्तिग्रस्त हैं उन्हें भी स्वावलंबी न होने तक सहायता ग्रहण करते रहने का अधिकार है, पर जो ऋद्धि-सिद्धि, स्वर्ग-मुक्ति कमाने की स्वार्थ साधना में निरत होते हुए भी भगवान की दुहाई देकर

अपनी श्रमशीलता से बचते हैं, मुफ्त का सम्मान और धन लूटते हैं उन्हें रास्ते पर लाया जाना चाहिए और बताया जाना चाहिए कि देश के ७ लाख गाँवों के लिए ६० लाख संत-महात्मा यदि लोकसेवी के रूप में उभरें तो नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक स्थिति में उत्साहजनक परिवर्तन कर सकते हैं।

समाज को ऊँचा उठाने के लिए शिक्षा क्रांति आवश्यक है। निरक्षरों को साक्षर बनाया जाए, वयस्क नर-नारियों के लिए प्रौढ़ पाठशाला चलाई जाएँ। स्कूली बच्चों को अवकाश के समय में बाल संस्कारशाला में सम्मिलित किया जाए ताकि जो कमी स्कूली पढ़ाई में रह जाती है उसकी पूर्ति हर गाँव, हर मुहल्ले में स्थापित संस्कारशालाओं में पूरी की जा सके। ७८ करोड़ की आबादी में ७० प्रतिशत अशिक्षित भरे पड़े हैं। इन सबको शिक्षा और संस्कार प्रदान करने के लिए हर सुशिक्षित से शिक्षा-ऋण वसूल करने का अभियान चलाया जाए। यदि लोग अध्यापन के लिए निःशुल्क सेवाएँ देने लगेंगे और प्रतिभाशाली लोग जनसंपर्क बनाकर अशिक्षितों को पढ़ाने के लिए तैयार कर सकेंगे तो जन आंदोलन के रूप में शिक्षा-समस्या का समाधान हो सकेगा।

शेखावाटी के स्वामी केशवानंद ने यही किया था। उनने घर-घर में अनाज के मुट्ठी फंड रखवाए थे और उसी संग्रहीत अन्न के सहारे हर गाँव में पाठशाला स्थापित कराई थी। वह सिलसिला उनके जीवन भर चलता ही रहा। इसी आधार पर अनेक हाईस्कूल-कॉलेज खुले और सफलतापूर्वक चले। राठ-हमीरपुर में भी स्वामी ब्रह्मानंदजी ने अकेले ही अपने उस पिछड़े देहात में एक कॉलेज खड़ा किया। हम सभी को इस सामयिक शिक्षा चुनौती को स्वीकार करना चाहिए।

❐

सत्कार्यों के लिए साधन-सहयोग

बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन में प्रधान भूमिका तो भिक्षु-भिक्षुणियों की ही रही, पर उनके निर्वाह, निवास एवं यातायात-प्रचार आदि के लिए विपुल साधनों की आवश्यकता पड़ती रही जिसे बिंबसार, हर्षवर्द्धन, अशोक जैसे पुण्यात्माओं से लेकर अंगुलिमाल, अंबपाली जैसे हेय समझे जाने वालों द्वारा समर्पित किए गए साधनों से पूरा किया जाता रहा। यदि यह सब न जुटा होता तो भिक्षुओं-परिव्राजकों के लिए महान परिवर्तन की भूमिका निभा सकना तो दूर, जीवित रहने के लिए कंद-मूल तलाश करने में ही अपना समय गुजारना पड़ता। देश, धर्म और समाज-संस्कृति की सेवा तो वे कर ही कैसे पाते?

राणाप्रताप साधनों के अभाव में एक बार नितांत हताश हो गए थे। घास की रोटी भी जब बिलाव उठा ले गया तो अबोध बालिका भूखी मरने लगी। प्रताप का पत्थर जैसा कलेजा मोम जैसा हो गया और वे बादशाह से संधि करके हथियार डाल देने और पराधीनता स्वीकार करने की बात सोचने लगे। बेचारे करते भी क्या ? साथी सैनिकों को भी तो अन्न-वस्त्र चाहिए। शस्त्रों की निरंतर रहने वाली आवश्यकता भी तो पूरी होनी चाहिए अन्यथा योद्धा मात्र पत्थर फेंककर तो दुर्दांत शत्रु का सामना नहीं कर सकता। प्राण त्यागना अपने वश की बात है, वैसा तो चित्तौड़ की रानियों ने भी जौहर के रूप में कर डाला था, पर विजयश्री का वरण करने के लिए अकेले भुजबल से भी काम नहीं चलता। साथ में सैनिक भी चाहिए, शस्त्र भी और राशन-वाहन भी, इसके बिना कर्त्तव्य निभाना भर हो सकता है। विजय प्राप्त करके दुंदुभी बजाना और जीत का उद्घोष करना संभव नहीं हो सकता। साधनों का भी अपनी जगह महत्त्व है। विशेषतया तब, जब शरीर सेवा से बढ़कर किसी बड़े अभियान का सरंजाम जुटाना हो।

प्रताप के सम्मुख प्रस्तुत जीवन-मरण की कठिनाई का हल उदारचेता भामाशाह ने किया। उनके पास व्यवसाय संग्रहीत संपदा थी जिस पर कुटुंबी और रिश्तेदार दाँत लगाए हुए थे। उन सबकी मान्यता थी कि उत्तराधिकार में जो हिस्सा मिलेगा उसी के सहारे मौज की जिंदगी कटेगी। जब उनने यह सुना कि भामाशाह राणा की सहायता के लिए अपनी संपदा समर्पित करने वाले हैं तो वे सभी आग बबूला हो गए। गृहकलह चरम सीमा तक पहुँच गया, किंतु शाह ने अपने विवेक को इतने पर भी जीवित रखा। कर्त्तव्य भी पाला और आदर्श भी निभाया। उनके पास जो विपुल संपदा थी उस सबको समेटकर राणा के चरणों पर सत्प्रयोजनों के निमित्त अर्पित कर दिया। परिवार के किसी सदस्य से सलाह नहीं ली और न उनके विरोध की परवाह की, परिणाम स्पष्ट है। राणा की रगों में नया रक्त उछला। नई योजना बनी, नए सिरे से संग्राम शुरू हो गया और इतिहास के पृष्ठों में वह वीरता अमर हो गई। श्रेय तो वीरता को ही मिला, पर जो गहराई तक प्रवेश कर सकते हैं, वे उसके पीछे अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए भामाशाह के उदार साहस को जोड़े बिना नहीं रह सकते।

ऐसे उदाहरण एक नहीं अनेक हैं। नवयुग निर्माण के लिए प्रयत्नरत विश्वामित्र को राजा हरिश्चंद्र ने अपना धन ही नहीं, परिवार और शरीर तक समर्पित कर दिया था। आद्य शंकराचार्य जब देश के चार कोनों में चार मठ बनाने के लिए व्याकुल थे तब साधनों का अभाव उनके सामने प्रमुख बाधा बनकर खड़ा था। मांधाता ने अपनी सारी संपदा उसी प्रयोजन के लिए लगा देने की प्रतिज्ञा की और निभाई। यदि वे वैसा साहस न कर सके होते, कोई और वैसा उदार न मिला होता तो देश के चार कोनों पर चार धाम बनाकर देश की एकता और अखंडता को सांस्कृतिक आधार पर सुदृढ़ एवं सुनिश्चित बनाने की योजना का कौन जाने क्या हुआ होता ? इस संबंध में कौन क्या कह सकता है ?

स्वराज्य के दिनों में उठती उमंगों वाले युवकों को प्रशिक्षित करके स्वतंत्रता संग्राम को अंगद-हनुमान की तरह उठा ले जाने की आवश्यकता अनुभव की गई। राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं का उत्पादन उस समय की महती आवश्यकता थी, इसके लिए पैसा चाहिए था। अँगरेज सरकार के डर से संपन्न लोग भी ऐसे कामों में कुछ धन देने से अपने ऊपर आफत आने की आशंकाएँ करते थे। छात्र और उनके अभिभावक भी कुछ अधिक देने की स्थिति में नहीं थे। पैसे के बिना काम अड़ गया, इस व्यवधान को अकेले एक आदमी ने पूरा किया–उनका नाम था महेंद्र प्रताप। अलीगढ़ जिले के मुरसान कसबे में उनके पास लगभग सौ गाँवों की जागीरदारी थी। उनमें से एक गाँव अपने गुजारे के लिए रखकर शेष ९९ गाँवों को उनके अपने नवजात पुत्र के नाम हस्तांतरित कर दिया। वे निस्संतान थे, पुत्र की चर्चा चलती रहती थी। उनने अपने संकल्पित विद्यालय को ही 'मानसपुत्र' माना और उसी दिन प्रेम महाविद्यालय को जन्म देते हुए अपनी संपदा उसके नाम हस्तांतरित कर दी। प्रेम महाविद्यालय बनने और चलने में देर न लगी, देश के लिए उत्सर्ग होने वाले छात्रों के ठाठ लग गए। उच्चस्तरीय अध्यापक खोजे गए। डॉ. संपूर्णानंद, आचार्य जुगलकिशोर, प्रो. कृष्णचंद्र जैसे देश के मूर्द्धन्य समझे जाने वाले नेता प्रविष्ट छात्रों को स्वयं पढ़ाते थे। फलतः पूरा विद्यालय स्वतंत्रता सैनिकों की छावनी बन गया। आंदोलन आरंभ होते ही सरकार ने उसे जब्त कर लिया। विद्यार्थी और अध्यापक अपनी गतिविधियों से इस प्रकार आंदोलन चलाते रहे कि उस जमाने में उत्तरप्रदेश सत्याग्रही सैनिकों की खदान माना जाने लगा। विचारणीय यह है कि राजा महेंद्र प्रताप की वह विपुल संपदा यदि आड़े समय में राष्ट्र के काम न आई होती तो आंदोलन में जो चार चाँद लगे उसमें निश्चित रूप से कमी रह जाती। जमींदारी देते समय उनके परिवार वाले सहमत रहे हों या मित्रों ने उसे बुद्धिमत्तापूर्ण कदम बताया हो–ऐसी बात नहीं है। सभी कहते थे कि पहले अपने मौज-

मजे का प्रबंध करना चाहिए और दान के नाम पर इतना थोड़ा सा देना चाहिए जिससे अखबारों में फोटो छपने लगे और चापलूस चमचे-चारणों की तरह कीर्ति-ध्वजा फहराने और जय-जयकार करने की कीमत प्राप्त कर सकें। यह सब अपने स्थान पर होता रहा और महेंद्र प्रताप का संकल्प अपने स्थान पर फलित होता रहा।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर उन दिनों ५०० रुपये के लगभग वेतन पाते थे, पर उनने अपने परिवार के खरच के लिए ५० रुपये की राशि ही निश्चित की थी। उतने में ही गुजारा चला लेते थे और शेष बचा हुआ पैसा उन निर्धन विद्यार्थियों की शिक्षा-व्यवस्था में काम आता था जो पढ़ाई के आवश्यक साधन अपने घरों से प्राप्त नहीं कर सकते थे- ऐसे छात्रों के लिए विद्यासागर ही अभिभावक की भूमिका निभाते थे।

पोलैंड में शांति के लिए नोबुल पुरस्कार विजेता एक श्रमिक नेता लेक वालेसा ने अपने को मिली राशि में से एक पाई को भी अपने लिए नहीं छुआ वरन वह सारा धन श्रमिक आंदोलन को गतिशील बनाने के लिए हाथोहाथ हस्तांतरित कर दिया।

ठीक इसी प्रकार एक नोबुल पुरस्कार विजेता उच्च शिक्षित पादरी अलबर्ट श्वाइत्जर ने अपने को अफ्रीका के कोढ़ियों के लिए समर्पित किया। यह छूत उन्हें भी लग गई थी तो भी वे मरते दम तक उस व्रतशीलता को निभाते रहे। उन्हें भी नोबुल पुरस्कार मिला था, उस लाखों की रकम को उनने कोढ़ी परित्राण के लिए ही दान कर दिया। शरीर और मन तो वे पहले ही दे चुके थे।

अमेरिका के एक करोड़पति पैसे को इतना प्यार करते थे कि उनने शादी तक नहीं की कि स्त्री-बच्चों पर खरच करना पड़ेगा। उनसे कोई मिलने आता था तो सिर्फ एक बत्ती कमरे में जलने देते थे ताकि अधिक बिजली जलने से पैसे की हानि न हो।

उस देश में एक प्रशिक्षकों का विश्वविद्यालय बन रहा था, उसके लिए चंदा इकट्ठा किया जा रहा था। धन कमेटी ने अनुत्साहपूर्वक उस कृपण के यहाँ भी चलने का निश्चय किया। घुसते ही एक को

छोड़कर सब बत्तियाँ बुझ गईं तो उनने समझ लिया कि इस कृपण के यहाँ से कुछ मिलना-जाना नहीं है। संकोचपूर्वक समिति ने पाँच हजार डालर की प्रार्थना की, चूँकि योजना धनाढ्य के मन की थी और वह उसी निमित्त एक-एक कौड़ी करके धन जमा करता रहा था-ऐसी यूनीवर्सिटी खुलने की उसे हार्दिक प्रसन्नता हुई। उसने पाँच हजार के स्थान पर पचास हजार डालर का चैक दिया। जब समिति आश्चर्य व्यक्त करने लगी तो उसने कहा-"चूँकि काम मेरे मन का है, इसलिए मैं अपनी पचास करोड़ डालर की पूरी संपदा दूँगा, पर पचीस-पचीस लाख की किश्तों में, ताकि यह देखता चलूँ कि काम उसी स्तर का उसी प्रकार हो रहा है या नहीं-जैसा कि मैं चाहता हूँ।" अंततः उसकी सारी पूँजी उस विश्वविद्यालय में ही लगी।

यह संपन्न लोगों की एकाकी साहसिकता के उदाहरण हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि अधिक लोग ऐसी स्थिति में हों और ऐसा बड़ा साहस कर सकें, किंतु जिनकी, जितनी क्षमता और उदार साहसिकता है, वह उस अनुपात में कुछ तो दे ही सकता है, उन कामों के लिए जिनकी परिणति असंदिग्ध हो, जिनसे वस्तुतः लोक-कल्याण सधता हो।

भगवान बुद्ध ने एक विशाल संघाराम निर्माण के लिए धनिकों की गोष्ठी बुलाई। सभी ने उदारतापूर्वक दान दिया। पीछे यह पूछा गया कि सबसे बड़ी राशि कितनी थी तो एक घसियारे के पचास पैसे की घोषणा की गई। यह उसकी शत-प्रतिशत पूँजी थी और उसे दे चुकने के बाद उस दिन उसे भूखा सोना पड़ा था। पुण्य, धन की मात्रा पर निर्भर नहीं वरन इस तथ्य पर अवलंबित है कि किसने अपने साधनों का कितना बड़ा अंश पुण्य कार्य के निमित्त भावपूर्वक समर्पित किया।

❐

मुद्रक-युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)